

मेरे विचार में कर्म की समस्या से हमारा गहरा सरोकार आवश्यक है। जब इतनी सारी समस्याएं हमारे सामने हैं—गरीबी, अधिक जनसंख्या, यंत्रों का असाधारण विकास, औद्योगीकरण, आंतरिक तथा बाह्य रूप से गिरावट का एहसास—तो हमें करना क्या होगा? समाज से अपने संबंधों के सिलसिले में व्यक्ति का कर्तव्य अथवा दायित्व क्या है? यह समस्या निश्चित रूप से सभी विचारशील लोगों के सरोकार का विषय होती है और व्यक्ति जितना अधिक बुद्धिमान, जितना अधिक सक्रिय होता है, उतना ही ज्यादा वह खुद को किसी न किसी प्रकार के समाज-सुधार में झोंक देना चाहता है। तो व्यक्ति का वास्तविक दायित्व क्या है? मुझे लगता है इस प्रश्न का उत्तर पूरी तरह से तथा जीवंत सार्थकता सहित तभी दिया जा सकता है, जब हम सभ्यता के, संस्कृति के समग्र उद्देश्य को समझ लें।

आखिरकार, वर्तमान समाज को हमने ही बनाया है, यह हमारे ही व्यक्तिगत संबंधों का परिणाम है; और यथार्थ को, ईश्वर को, या जो भी नाम आप उसे देना चाहें, उसको खोजने-पाने के लिए क्या यह समाज आधारभूत रूप से मनुष्य की मदद करता है? या क्या यह मात्र एक ढांचा है जो प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करता है कि किसी मसले पर हमें कैसे प्रतिक्रिया करनी है, अथवा समाज के साथ अपने संबंधों में कैसे कर्मरत होना है? यदि वर्तमान संस्कृति, वर्तमान सभ्यता ईश्वर को, सत्य को पाने में मनुष्य की मदद नहीं करती, तो यह एक बाधा ही है; और यदि यह एक बाधा है, तो इसके पुनरुत्थान हेतु किया गया प्रत्येक सुधार, प्रत्येक क्रिया-कलाप यथार्थ के अन्वेषण में एक और गिरावट ही है, एवं मात्र यथार्थ के उस अन्वेषण से ही सच्ची कर्मशीलता का जन्म होता है।

मेरे विचार में इस बात को समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है, न कि सिर्फ इससे सरोकार रखना कि किस प्रकार के सामाजिक सुधार या गतिविधि से तादात्प्य स्थापित कर लिया जाए। निश्चित रूप से, समस्या यह नहीं है। समस्या स्पष्ट ही अधिक गहरी है। बड़ी आसानी से व्यक्ति किसी गतिविधि या समाज-सुधार में जुट सकता है और तब यह पलायन का एक माध्यम बन जाता है, कर्म के द्वारा स्वयं के विस्मरण अथवा बलिदान का साधन बन जाता है; पर मुझे नहीं लगता कि इससे हमारी अगणित समस्याओं का हल निकल आएगा। हमारी समस्याएं कहीं अधिक गहन हैं तथा हमारी आवश्यकता एक अधिक गहन समाधान की ही है, जो मेरे विचार में हमें तब मिलेगा जब हम इस प्रश्न की पढ़ताल कर सकें कि क्या हमारी यह वर्तमान संस्कृति—संस्कृति में निहित है, धर्म तथा समस्त सामाजिक व नैतिक संरचना—यथार्थ को खोज लेने में मनुष्य की कोई सहायता करती है। यदि ऐसा नहीं है, तो इस तरह की संस्कृति या सभ्यता का सुधार मात्र करना समय का अपव्यय है; लेकिन यदि यह सच्चे मायने में मनुष्य की सहायक है, तो हम सभी को इसके सुधार की ओर तहे दिल से, पूरे तौर पर ध्यान देना चाहिए। यह मसला, मेरे ख्याल में, इसी बात पर निर्भर करता है।

संस्कृति से हमारा तात्पर्य है विचार की समग्र समस्या, है न? हमें से अधिकतर के लिए विचार विभिन्न प्रकार की संस्कारबद्धता, शिक्षा, अनुसरण-वृत्ति एवं उन दबावों तथा प्रभावों का परिणाम है, जिनके अधीन किसी विशेष सभ्यता के प्रारूप के भीतर रहते यह काम करता है। वर्तमान में हमारे विचारों को समाज द्वारा ही ढाला जाता है तथा जब तक हमारी सोच में एक क्रांति घटित नहीं होती है, तब तक किसी सतही संस्कृति या समाज का मात्र सुधार-कार्य मुझे तो एक मन-बहलाव भर लगता है, एक ऐसा कारक जो आखिरकार और दुर्दशा का ही कारण बनेगा।

अंततः जिसे हम सभ्यता कहते हैं, वह विचार को हिंदू सांचे, ईसाई या साम्यवादी सांचे या वैसे ही किसी और सांचे में ढालने की, शिक्षित करने की प्रक्रिया ही है; और क्या इस तरीके से शिक्षित की गई सोच

कभी भी आधारभूत क्रांति सृजित कर सकती है? क्या विचार को आकार देने का कोई भी जतन, उस पर पड़ने वाला कोई भी दबाव सत्य के शोध को, उसकी समझ को जन्म दे सकता है? निश्चित ही, विचार को अपने आपको सभी दबावों से मुक्त करना होगा, जिसका असल में अभिप्राय यह है कि उसे खुद को समाज से, सभी तरह के प्रभावों से मुक्त कर लेना होगा और इस तरह खोज लेना होगा कि सत्य क्या है; तब उस सत्य की अपनी ही एक क्रिया होगी, जो एक पूरी तरह से भिन्न संस्कृति का सूत्रपात करेगी।

तात्पर्य यह कि क्या समाज का अस्तित्व यथार्थ के प्रकटन हेतु है, या क्या यथार्थ को पाने के लिए व्यक्ति का समाज से मुक्त होना आवश्यक है? यदि समाज यथार्थ को खोज पाने में मनुष्य का सहयोग करता है, तब तो समाज के भीतर हर तरह का सुधार अनिवार्य है; किंतु यदि यह उस खोज में एक रुकावट है तो क्या व्यक्ति को समाज से निकल नहीं आना चाहिए और सत्य की खोज में नहीं लग जाना चाहिए? केवल ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में धार्मिक है, न कि वह व्यक्ति जो पूजा-पाठों का अनुष्ठान किया करता है अथवा जीवन को किन्हीं धर्मशास्त्रीय प्रतिमानों के अनुसार जीता है; और जब कोई व्यक्ति विशेष स्वयं को समाज से मुक्त कर लेता है और सत्य को खोजता है, तो क्या वह अपनी इस खोज में ही एक भिन्न संस्कृति का प्रादुर्भाव नहीं कर रहा होता?

मेरी सोच में यह एक महत्त्वपूर्ण मसला है क्योंकि हममें से ज्यादातर लोगों का सरोकार महज सुधार ले आने से है। हम निर्धनता, बढ़ती जनसंख्या तथा हर तरह के विघटन, विभाजन व छंद्र को देखते हैं, और यह सब देखने पर व्यक्ति को करना क्या है? क्या उसे किसी विशिष्ट समूह में शामिल होकर या किसी विचारधारा के लिए काम करके शुरूआत करनी है? क्या यही धार्मिक मनुष्य का कार्य है? धार्मिक मनुष्य निश्चित तौर पर वही है जो यथार्थ को खोज रहा है, वह व्यक्ति नहीं जो गीता से उद्धरण देता रहता है, या जो रोज़ मंदिर जाया करता है। ज़ाहिर है कि यह धर्म नहीं है, यह तो बाध्यता है, समाज द्वारा विचार को संस्कारग्रस्त करना है। तो वह मनुष्य क्या करे, जो इस बारे में संजीदा है, जो एक अविलंब क्रांति के घटित होने की आवश्यकता को देखता है, उस क्रांति की अभीप्सा से युक्त है? क्या वह समाज के ढांचे के भीतर ही सुधार के लिए कार्य करे? समाज एक कारागार है, और क्या वह बस इस कारागार में सुधार लाता रहे, इसके सीधें खों को सजाता रहे और इसकी दीवारों के भीतर चीज़ों को खूबसूरती से अंजाम देता रहे? निश्चित रूप से वही मनुष्य, जो सचमुच ही गंभीर है, जो खरे अर्थों में धार्मिक है, वही एक मात्र क्रांतिकारी है, और कोई नहीं; और ऐसा मनुष्य वही है जो यथार्थ को खोज रहा है, जो यह पता लगाने की कोशिश कर रहा है कि ईश्वर अथवा सत्य क्या है?

अब ऐसे मनुष्य का कर्म क्या है? वह क्या करे? क्या वह वर्तमान समाज के भीतर ही काम करे, या इससे निकल आए और उसके वास्ते समाज का बिलकुल भी संदर्भ न रहे। निकल आने का मतलब किन्हीं खास तरह के सम्मोहनकारी सुझावों के ज़ोर पर खुद को अलग-थलग कर लेना, संन्यासी बन जाना, एकांतवासी हो जाना नहीं है; फिर भी वह सुधारक तो नहीं बन सकता है क्योंकि किसी वार्कइ संजीदा इनसान के लिए महज़ सुधारों में जुट जाना ऊर्जा का, विचार का, सर्जनात्मकता का अपव्यय है। तो वह वस्तुतः गंभीर मनुष्य क्या करे? यदि वह जेलखाने की दीवारों को सजाने, कुछ सलाखें हटा लेने, थोड़ा और उजाला आने देने में उत्सुक नहीं है, यदि उसके लिए इन सब बातों का कोई संदर्भ ही नहीं बनता, और यदि वह मनुष्य तथा मनुष्य के बीच संबंध में—वह संबंध, जिसने यह भयावह समाज निर्मित किया है, जिसमें ऐसे लोग भी हैं जिनके पास अकूत संपत्ति है, और ऐसे भी हैं जिनके पास कुछ भी नहीं है, बाहरी और भीतरी दोनों रूपों में—उस संबंध में आमूल क्रांति, आधारभूत परिवर्तन लाने के महत्त्व को भी देखता है, तो उसे करना क्या होता है? मेरे विचार में, स्वयं के समक्ष यह प्रश्न रखना महत्त्वपूर्ण है।

अंततः, क्या संस्कृति सत्य के माध्यम से अस्तित्व में आती है, अथवा क्या संस्कृति मानव-निर्मित है? यदि यह मानव निर्मित है, तो स्पष्ट ही यह आपको सत्य की ओर नहीं ले जाएगी। और हमारी संस्कृति मानव निर्मित ही है, क्योंकि यह न केवल सांसारिक वस्तुओं के, अपितु तथाकथित आध्यात्मिक जिन्सों के विविध प्राप्तिलोभों पर आधारित है। यह संस्कृति हर तरह की पद की अभिलाषा, आत्म-शताधा तथा इसी तरह की बातों का परिणाम है। यह बात बिलकुल साफ है कि इस प्रकार की संस्कृति मनुष्य को उसकी अनुभूति की ओर नहीं ले जा सकती, जो परम है; और यदि मैं इस बात को देख लेता हूं, तो मुझे करना क्या होगा? आप क्या करेंगे, सर, यदि आपको वास्तव में इसका एहसास हो जाए कि समाज बाधा है? समाज एक या दो क्रिया-कलाप मात्र नहीं है, यह मानव-संबंध की समस्त संरचना है जिसमें सारी सृजनशीलता समाप्त हो चुकी है, जिसमें निरंतर अनुकरण हो रहा है; यह भय का एक ढांचा है जहां शिक्षा केवल अनुसरण है और जिसमें प्रेम बिलकुल भी नहीं है, बस प्रेम के रूप में वर्णित एक प्रारूप है, क्योंकि यही तो है जिसके लिए हम सब होड़ में लगे हैं कि हमें मान्यता मिले। हमारी क्षमताओं को, हमारे ज्ञान को समाज की ओर से मान्यता मिले, ताकि हम कोई हस्ती बन जाएं। तो जब वह यह सब महसूस करता है और गरीबी को, भुखमरी को, तमाम तरह के विश्वासों में मन के विखंडन को देखता है, तो एक वस्तुतः गंभीर व्यक्ति को करना क्या होता है?

अब यदि हमें जो कुछ कहा जा रहा है, उसे हम वास्तव में सुनें, इस अर्थ में सुनें कि हमें यह पता लगाने की चाह हो कि सत्य क्या है, ताकि मेरी राय के विरुद्ध आपकी राय, मेरे स्वभाव के विरुद्ध आपके स्वभाव का द्वंद्व न रहे, यदि हम उस सबको एक तरफ हटा सकें और यह पता लगाने की कोशिश करें कि सत्य क्या है, जिसके लिए प्रेम की आवश्यकता है, तब मैं सोचता हूं कि हम उस प्रेम में ही, अच्छाई के उस एहसास में ही सत्य को पा लेंगे, जो एक नई संस्कृति का सर्जन करता है। तब व्यक्ति समाज से मुक्त होता है, वह समाज के सुधार के विषय में चिंतित नहीं होता है। परंतु यह पता लगाने के लिए कि सत्य क्या है, प्रेम की दरकार होती है, और हमारे हृदय खाली हैं क्योंकि वे समाज की वस्तुओं से भरे हुए हैं। इनसे भरे रहकर हम सुधार का प्रयास करते हैं, और हमारा यह सुधार-कार्य प्रेम की सुगंध से रहित होता है।

अतः वह मनुष्य जो गंभीर है; क्या करे? क्या वह सत्य, ईश्वर या जो भी नाम आप उसे देते हों, उसकी खोज करे, या वह अपना दिल और दिमाग समाज की उन्नति में लगाए, जो वास्तव में उसका अपना ही सुधार है। आप समझ रहे हैं न? वह सत्य क्या है, इसका अन्वेषण करे, या वह समाज के हालात में सुधार लाए, जो कि उसका स्वयं में सुधार लाना ही है? क्या वह समाज के नाम पर स्वयं को उन्नत करे, या वह सत्य की खोज करे, जिसमें उन्नति वाली बात ही नहीं है? उन्नति में समय निहित है, कुछ बनने के लिए समय, जबकि सत्य का समय से कोई वास्ता नहीं है, इसका बोध तो तत्काल करना होता है।

अतः यह समस्या असाधारण रूप से अर्थपूर्ण है, है न? हम समाज के सुधार के बारे में चर्चा कर सकते हैं, लेकिन वह अभी भी अपना खुद का सुधार ही है। और उस मनुष्य के लिए, जो यह खोज रहा है कि यथार्थ क्या है, सत्य क्या है, स्व का कोई सुधार है ही नहीं; बल्कि बात इसके ठीक उलट है, स्व का तो, जो कि समाज है, पूर्ण अवसान ही होना है; इसलिए उसका सरोकार समाज के सुधार से नहीं है।

समाज की पूरी संरचना मान्यता तथा प्रतिष्ठा की प्रक्रिया पर आधारित है, और निश्चित ही, कोई गंभीर व्यक्ति समाज के सुधार की चाह नहीं कर सकता है, जो कि उसका खुद का ही सुधार है। समाज को

सुधारने में, किसी भले से अपना तादात्म्य स्थापित करने में वह यह सोच सकता है कि वह अपना उत्सर्ग कर रहा है, पर है यह अभी भी आत्मोन्नति ही। जबकि जो मनुष्य उसे खोज रहा है जो परम है, सर्वोच्च है, उसके लिए आत्मोन्नति का प्रश्न ही नहीं है; उस दिशा में ‘मैं’ की कोई उन्नति, कोई सुधार नहीं है, कुछ बनना नहीं है, कोई अभ्यास नहीं है, ‘‘मैं हो जाऊँ’’ का कोई विचार नहीं है। इसका वास्तव में अर्थ है, विचार पर समस्त दबाव की समाप्ति; और जब विचार पर कोई दबाव नहीं होता, तो क्या विचार करने की क्रिया होती है? विचार पर पड़ने वाला दबाव ही सोचने की प्रक्रिया है, किसी खास समाज के हिसाब से सोचना, या उस समाज के खिलाफ प्रतिक्रिया के हिसाब से सोचना; और जब कोई दबाव नहीं है, तो क्या सोचने की यह प्रक्रिया है? केवल वही मन जिसमें विचार की यह गतिविधि नहीं होती, जो कि समाज का दबाव ही है—केवल ऐसा ही मन यथार्थ का अन्वेषण कर पाता है, और उस परम को खोजने में ऐसा मन नई संस्कृति का सर्जन करता है। यही है, जो कि आवश्यक है : एक सर्वथा भिन्न प्रकार की संस्कृति को जन्म देना, न कि वर्तमान समाज को सुधारते रहना। और इस प्रकार की संस्कृति का उदय तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि इस सबको वास्तव में गंभीरता से लेने वाला व्यक्ति संपूर्ण ऊर्जा के साथ, प्रेम के साथ, पूरी तरह से उसकी खोज में न लगे जो कि यथार्थ है। उस यथार्थ को किसी पुस्तक में, किसी अगुआ के माध्यम से नहीं पाया जा सकता; वह तब अस्तित्व में आता है जब विचार निश्चल होता है तथा वह निश्चलता किसी अनुशासन द्वारा नहीं लाई जा सकती। जब प्रेम होता है तो निश्चलता का आगमन होता है।

इन प्रश्नों में से कुछ पर गौर करते वक्त, मैं समझता हूँ यह महत्त्वपूर्ण है कि जो कहा जा रहा है उसका हम प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करें, और आप ऐसा नहीं कर सकते अगर आपका सरोकार सिर्फ उस प्रश्न के उत्तर से ही है। यदि हमें समस्या का मिलकर अन्वेषण करना है, तो हम उसके बारे में मताग्रह नहीं रख सकते, मेरे मत-सिद्धांत बनाम आपके मत-सिद्धांत, क्योंकि मतवाद और अनुमान समस्या को समझने में बाधक बनते हैं। लेकिन आप और मैं बिना किसी आग्रह के, शांतिपूर्वक समस्या में गहनता से प्रवेश करें, तो संभवतः इसे समझ पाएं। वास्तव में कोई समस्या है ही नहीं, यह मन ही है जो समस्या बना लिया करता है। किसी समस्या को समझने में हम अपने आपको, अपने ही मन के कार्य-व्यापार को समझ रहे होते हैं। अंततः किसी समस्या की विद्यमानता तभी होती है, जब कोई मुद्दा या खलबली, बेचैनी मन की जमीन में जड़े जमा ले। और क्या मन किसी बेचैनी के प्रति, उस बेचैनी को मन में जड़े जमाए दिए बिना, जागरूक होने में, किसी मुद्दे, किसी समस्या को देखने में सक्षम नहीं है? मन किसी संवेदनशील फिल्म की भाँति होता है, यह अनुभूत करता है, विविध प्रकार की प्रतिक्रियाओं को महसूस करता है; किंतु क्या प्रेम सहित अनुभूत करना, महसूस करना, प्रतिक्रिया करना संभव नहीं है, ताकि मन ही वह मृदा, वह मिट्टी न बने, जिसमें प्रतिक्रिया जड़ पकड़ ले और एक समस्या बन जाए।

प्रश्न : आपने कहा है कि पूर्ण अवधान शुभ है; तब अशुभ क्या है?

कृष्णमूर्ति : मुझे सदेह है कि क्या अशुभ जैसा कुछ होता भी है? मेहरबानी करके थोड़ा ध्यान दें, साथ आएं, साथ-साथ छानबीन करें। हम कहते हैं कि शुभ है और अशुभ है। ईर्ष्या है, और प्रेम है, एवं हम कहते हैं कि ईर्ष्या बुरी है, अशुभ है तथा प्रेम भला है, शुभ है। हम इसे ‘भला’ और उसे ‘बुरा’ कहकर जीवन को विभाजित करते हैं, और ऐसा करके विपरीतों का ढंद करने निर्मित कर लेते हैं? ऐसा नहीं कि मनुष्य के मन तथा हृदय में ईर्ष्या, धृष्णा, कूरता नहीं है, करुणा व प्रेम का अभाव नहीं है, पर हम ‘शुभ’ कहे जाने वाले विषय और ‘अशुभ’ कहे जाने वाले विषय में जीवन को क्यों बांटा करते हैं? क्या वास्तव में विषय-वस्तु एक ही नहीं है, जो कि वह मन है जो अनवधान में है, ध्यान नहीं दे रहा है?

निश्चित ही, जब पूर्ण अवधान होता है, जिसका अर्थ है कि मन पूरी तरह से सजग, सतर्क, सावधान होता है, देख रहा होता है, तो शुभ या अशुभ जैसा कुछ नहीं होता, केवल एक जाग्रत दशा होती है। शुभता, अच्छाई तब कोई लक्षण, कोई सद्गुण नहीं है, यह तो प्रेम की दशा है। जब प्रेम है, तो न अच्छा है, न बुरा है, केवल प्रेम है। जब आपको किसी से प्रेम होता है, तो आप अच्छाई या बुराई, शुभ या अशुभ के बारे में नहीं सोच रहे होते, आपका समग्र अस्तित्व उस प्रेम से आपूरित होता है, भरा होता है। केवल तभी जब संपूर्ण अवधान का, प्रेम का अभाव होता है, तब ‘जो मैं हूं’ और ‘जो मुझे होना चाहिए’ के बीच ढंद आ जाता है। तब जो मैं हूं, वह ‘अशुभ’ होता है, बुरा होता है, और जो मुझे होना चाहिए, वह तथाकथित ‘शुभ’ होता है, अच्छा होता है।

अब क्या यह संभव है कि हम विखंडन के संदर्भ में न सोचें, जीवन को शुभ और अशुभ में न तोड़ें, इस ढंद में न फंसें। अच्छे और बुरे का ढंद कुछ बनने के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। जिस क्षण मन कुछ बन जाने की कामना करता है, प्रयास होगा ही, विपरीतों में ढंद होगा ही। यह कोई परिकल्पना नहीं है। आप अपने खुद के मन को देखें तो आप पाएंगे कि जिस पल मन कुछ बन जाने की भाषा में सोचना बंद करता है, क्रिया का अवसान हो जाता है, वह रुक जाती है, जो रुद्धता, गतिहीनता की स्थिति नहीं है, यह संपूर्ण अवधान की स्थिति है, जो कि शुभता है, अच्छाई है; परंतु वह संपूर्ण अवधान तब तक संभव नहीं होता, जब तक मन कुछ बनने के प्रयास में जकड़ा रहता लें

कृपया सुनें जरूर, न सिर्फ उसे जो मैं कह रहा हूं, बल्कि अपने खुद के मन की गतिविधियों को सुनें, जिससे आप पर यह प्रकट हो जाएंगा कि किस असाधारण आग्रह के साथ मन कुछ बन जाने के घोर प्रयत्न में लगा है, जो यह है उससे भिन्न कुछ हो जाने के अंतर्हीन संघर्ष में जुटा है, जिसे हम असंतोष कहा करते हैं। कुछ बन जाने का जो यह प्रयत्न है, यही ‘अशुभ’ है, क्योंकि यह अर्थात् अवधान है, अधूरा ध्यान है, पूर्ण अवधान नहीं है। जब पूर्ण अवधान होता है, तो बन जाने का कोई विचार नहीं होता, मात्र अस्तित्व की, होने की एक अवस्था होती है। पर जैसे ही आप पूछते हैं, ‘‘मैं होने मात्र की उस अवस्था तक कैसे पहुंच जाऊं, मैं पूरी तरह सजग कैसे हो जाऊं?’’ तो आप ‘अशुभ’ के पथ पर कदम रख ही चुके होते हैं क्योंकि आप उपलब्धि चाहते हैं। जबकि व्यक्ति इसे पहचान भर ले कि जब तक उसे कुछ बनना है, कुछ हो जाने का प्रयास करते रहना है, बन जाने की होड़ है, वह ‘अशुभ’ के पथ पर ही है, यदि व्यक्ति इस बात के सत्य का बोध कर पाए, इस तथ्य को ठीक जस-का-तस देख पाए, तब वह पाएंगा कि वही पूर्ण अवधान की स्थिति शुभत्व है, और वही स्थिति अच्छाई है, उसमें कोई संघर्ष नहीं है।

प्रश्न: महान संस्कृतियां सदैव किसी प्रतिमान पर आधारित रही हैं, पर आप एक नई संस्कृति की बात करते हैं जो प्रतिमान से मुक्त है। पर क्या बिना प्रतिमान के, बिना किसी ढांचे के संस्कृति का होना संभव है?

कृष्णमूर्ति : क्या मन को यथार्थ के अन्वेषण के लिए सभी प्रारूपों से मुक्त नहीं होना चाहिए? और वह जो यथार्थ है, उसके अन्वेषण हेतु मुक्त होने पर क्या यह अपना प्रतिमान नहीं निर्मित कर लेगा, जिसे हो सकता है वर्तमान समाज मान्यता न दे? क्या वह मन जो किसी ढांचे में जकड़ा हुआ है, जो उस ढांचे के अनुरूप ही सोच पाता है जो समाज द्वारा संस्कारित-अनुकूलित है, क्या ऐसा मन उस अपरिमेय का अन्वेषण कर सकता है जिसका कोई प्रारूप, कोई बंधा-बंधाया ढांचा नहीं है? यह भाषा जो बोली जा रही है, अंग्रेजी, यह भी सदियों में विकसित एक प्रारूप ही है। यदि प्रारूपों से स्वतंत्र सर्जनात्मकता है, तो वह सर्जनात्मकता, वह स्वतंत्रता भाषा की तकनीक का प्रयोग कर सकती है, पर उस तकनीक के माध्यम से,

भाषा के ढांचे-ढर्रे के ज़रिये, यथार्थ को कभी नहीं पाया जा सकता। अभ्यास के द्वारा, किसी विशेष प्रकार के ध्यान के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, किसी भी तरह के अनुभव के द्वारा, जो सभी एक प्रारूप के भीतर ही आते हैं, मन यह कभी नहीं समझ सकता कि सत्य क्या है। सत्य क्या है, इसे समझने के लिए, मन को प्रतिमानों-प्रारूपों से स्वयं को मुक्त कर लेना होगा। ऐसा मन एक निश्चल मन होता है, और तब वह जो सर्जनशील है, अपनी स्वतः की गतिविधि का सर्जन कर सकता है। लेकिन बात ऐसी है कि हममें से अधिकतर, प्रतिमानों से कभी मुक्त नहीं हो पाते। न तो इस जगत में, न ही उस मनोगत, आध्यात्मिक जगत में, कभी ऐसा क्षण नहीं आता, जब मन भय से, अनुरूपता से, कुछ बनते रहने की इस आदत से पूर्णतया मुक्त हो। जब किसी भी दिशा में कुछ बनने की प्रक्रिया पूरी तरह से समाप्त हो जाती है, तब वह जो ईश्वर है, सत्य है, आविर्भूत होता है और एक नूतन प्रारूप, अपनी ही एक संस्कृति का सर्जन करता है।

प्रश्न : मन की समस्या और निर्धनता व असमानता की सामाजिक समस्या को एक साथ समझने की, हल करने की ज़रूरत है। आप सिर्फ एक ही पर क्यों ज़ोर देते हैं?

कृष्णमूर्ति : क्या मैं एक ही पर ज़ोर दे रहा हूँ? क्या मन की समस्या से अलग, निर्धनता और असमानता की, पतन और दुर्दशा की सामाजिक समस्या जैसा कुछ है? क्या समस्या केवल एक ही नहीं है, जो कि मन है? यह मन ही है, जिसने सामाजिक समस्या निर्मित की है; और समस्या को निर्मित करके, यह स्वयं को आधारभूत रूप से बदले बिना उसे हल करने की कोशिश करता है। इसलिए हमारी समस्या मन ही है, वह मन जो श्रेष्ठ महसूस करना चाहता है और इस प्रकार सामाजिक असमानता रच लेता है, जो उपलब्धि के, लोभ-वृत्ति के विविध रूपों के पीछे भागता है, क्योंकि यह संपत्ति में, संबंध में या विचारों में, जो कि जानकारी है, सुरक्षित अनुभव करता है। सुरक्षित होने की यह सतत मांग ही असमानता निर्मित करती है, जो कि एक ऐसी समस्या है जिसे तब तक कदापि हल नहीं किया जा सकता, जब तक कि हम उस मन को न समझ लें जो भेद पैदा करता है, उस मन को, जिसमें प्रेम नहीं है। कानून बनाकर इस समस्या का हल नहीं निकलने वाला है, न ही इसे साम्यवादियों या समाजवादियों द्वारा हल किया जा सकता है। असमानता की समस्या का समाधान केवल तभी संभव है, जब प्रेम हो, और प्रेम सिर्फ एक शब्द नहीं है जिसे हम उछलते फिरें। जो मनुष्य प्रेम करता है उसे इस बात की चिंता नहीं होती कि कौन ऊँचा है और कौन नीचा है, उसके लिए न समानता है, न असमानता है; बस होने की एक अवस्था मात्र है, जो प्रेम है। पर हम उस अवस्था को जानते नहीं हैं, हमने उसे कभी महसूस नहीं किया है। अतः पूरी तरह अपनी ही गतिविधियों और व्यस्तताओं से वास्ता रखने वाला मन, जो पहले ही संसार में इतनी दुर्दशा ला चुका है तथा अभी भी और अधिक अनिष्ट और विनाश लाए जा रहा है—इस तरह का मन कैसे अपने ही भीतर एक संपूर्ण क्रांति को जन्म दे? निश्चित रूप से, समस्या यही है। और हम यह क्रांति किसी प्रकार के सामाजिक सुधार के द्वारा नहीं ला सकते; किंतु जब मन स्वयमेव ही इस बंधन-विमुक्ति की आवश्यकता को देख लेता है, तभी क्रांति घटित होती है।

सर, हम लोग हमेशा निर्धनता, असमानता और सुधार की बात किया करते हैं क्योंकि हमारे हृदय रीते हैं। जब प्रेम हो, तो हमारी समस्याएं होंगी ही नहीं, लेकिन प्रेम किसी अभ्यास द्वारा नहीं लाया जा सकता; इसका प्राकट्य तभी होता है जब आप नहीं होते हैं, मतलब यह कि जब आप अपने बारे में, अपने पद, अपनी प्रतिष्ठा के बारे में, अपनी महत्वाकांक्षाओं और कुंठाओं के बारे में चिंतित नहीं रह जाते हैं। जब आप अपने विषय में सोचना पूर्णरूपेण बंद कर देते हैं, कल नहीं, अभी। अपने विषय में यह व्यस्तता एक ही जैसी है, चाहे यह व्यस्तता उस शख्स की हो जो उसकी तलाश में लगा है जिसे वह ईश्वर कहता है, या

फिर उसकी जो किसी सामाजिक क्रांति के लिए कार्य कर रहा है; और जो मन इस भाँति व्यस्त है, वह कभी नहीं जान पाएगा कि प्रेम क्या है।

प्रश्न : हमें ईश्वर के बारे में बताइए?

कृष्णमूर्ति : मैं आपको ईश्वर के बारे में बताऊं, इसकी बजाय आइए, यह मालूम करते हैं कि क्या आप उस असाधारण अवस्था की अनुभूति कर सकते हैं अथवा नहीं, कल या किसी सुदूर भविष्य में नहीं, बल्कि ठीक इसी वक्त, जब हम यहां शांतिपूर्वक साथ-साथ बैठे हुए हैं। निश्चित ही यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन यह पता लगाने के लिए कि ईश्वर क्या है, समस्त विश्वास विदा हो जाने चाहिए। जो मन यह अन्वेषण करना चाहे कि सत्य क्या है, सत्य में विश्वास नहीं कर सकता, ईश्वर के विषय में धारणाएं और परिकल्पनाएं नहीं बनाए रख सकता। कृपया सुन लें। आपकी अपनी परिकल्पनाएं हैं, अपने विश्वास हैं, अपने मताग्रह हैं, आप अटकलबाजियों से भरे हुए हैं, सत्य अथवा ईश्वर क्या है, इसके बारे में इस या उस पुस्तक को पढ़कर आपके मन आशर्यजनक रूप से बेचैन हैं। जो मन जानकारी से भरा होता है, बेचैन होता है, शांत नहीं होता है, वह सिर्फ बोझिल होता है, और मात्र मंदता स्थिर मन की सूचक नहीं होती। जब मन विश्वास से भरा होता है—चाहे वह विश्वास इसमें हो कि ईश्वर है, या इसमें हो कि ईश्वर नहीं है—तो यह बोझ लिए होता है और बोझ से दबा मन कभी यह पता नहीं लगा सकता कि सत्य क्या है। यह अन्वेषण करने हेतु कि सत्य क्या है, मन को मुक्त होना होगा, इसे कर्मकांडों से, विश्वासों से, मत-सिद्धांतों से, ज्ञान और अनुभव से मुक्त हो जाना होगा। केवल तभी मन उसकी प्रतीति कर पाता है जो सत्य है, क्योंकि ऐसा मन मौन होता है, इसमें अब बाहर की ओर जाने वाली गतिविधि और भीतर की ओर आने वाली गतिविधि नहीं हो रही होती, जो कि इच्छा की गतिविधि है। इसने इच्छा का, जो ऊर्जा है, दमन नहीं किया है। इसके उलट, मन के निश्चल, स्थिर हो पाने के लिए प्रचुर ऊर्जा की आवश्यकता होती है; लेकिन ऊर्जा की परिपक्वता अथवा परिपूर्णता संभव नहीं हो पाती, यदि बाहर की ओर उन्मुख कोई भी गतिविधि और उसके फलस्वरूप भीतर की ओर प्रतिक्रिया विद्यमान हो। जब वह सब कुछ शांत हो गया हो, मन स्थिर हो जाता है।

मैं आपको स्थिर, शांत बनाने के लिए सम्मोहित नहीं कर रहा हूं। सदियों के समस्त संचय को, अंथ-आस्थाओं को, ज्ञान को, विश्वास को बिना किसी प्रतिरोध के, बिना किसी प्रयास के त्याग देने का, परे हटा देने का महत्त्व आपको स्वयं देखना होगा, आपको यह सत्य देख लेना होगा कि ढोते चले जाने का कोई भी रूप मन को बेचैन बनाता है, ऊर्जा की बरबादी करता है। मन के चुप होने के लिए ऊर्जा का प्राचुर्य चाहिए और वह ऊर्जा निश्चल, स्थिर होनी चाहिए। और यदि आप वास्तव में उस अवस्था तक आ गए हैं, जिसमें प्रयास है ही नहीं, तब आप पाएंगे कि वह ऊर्जा चूंकि स्थिर है, उसकी अपनी गतिशीलता है, जो समाज के दबाव अथवा बाध्यता का परिणाम नहीं है। चूंकि अब मन में अगाध ऊर्जा है, जो स्थिर और मौन है, मन स्वयं वह हो जाता है जो कि परम है: उस परम का कोई अनुभवकर्ता नहीं होता, ऐसी कोई हस्ती नहीं होती जो कहे, “मैंने यथार्थ का अनुभव किया है”। जब तक कोई अनुभवकर्ता है, यथार्थ हो नहीं सकता, क्योंकि अनुभवकर्ता तो अनुभव एकत्रित करने की या अनुभव का निरसन करने की, उसे मिटा देने की गतिविधि ही है; इसलिए अनुभवकर्ता का संपूर्ण समापन आवश्यक है।

इसे बस सुनें, कोई प्रयास न करें, केवल देखें कि अनुभवकर्ता, जो कि मन की बाहर जाने वाली तथा भीतर आने वाली गतिविधि है, उसका अंत ज़रूरी है। इस प्रकार की समस्त गतिविधि का अवसान ज़रूरी है, और इसके लिए अपार ऊर्जा की आवश्यकता है, जिसका अभिप्राय है कि ऊर्जा का न तो क्षण हो रहा

है, न उसे अनुशासन द्वारा विकृत किया जा रहा है, तब वहीं ऊर्जा प्रेम है। तब वह जो यथार्थ है, स्वयं उस ऊर्जा से भिन्न नहीं है।

मुंबई, 27 फरवरी 1955